भारत में खगोलशास्त्र

बी.वी. सुब्बारायप्पा

भारत में खगोलशास्त्रीय क्रियाकलाप मानव-आत्मा-ब्रह्माण्ड के एकीकरण के आम भारतीय लोकाचार से प्रेरित रहे हैं। इस नज़रिए के दो प्रमुख पहलू हैं। पहला यह कि आत्मा अमर है जबकि मानव शरीर नश्वर है जो ब्रह्माण्ड के साथ सामंजस्य बनाने का सतत प्रयास करता है। इस सामंजस्य का अंतिम लक्ष्य उसी में विलीन हो जाना है। दूसरा है चक्र की अवधारणा। प्रथम पहलू का सम्बंध हर उस चीज़ के प्रति 'स्व' के रवैये से है जो 'स्व' नहीं है। अर्थात यह मनुष्य और प्रकृति के आध्यात्मिक एकीकरण का द्योतक है। जहां तक आकाश में होने वाली चक्रीय घटनाओं का ताल्लुक है, दूसरा पक्ष कहीं ज़्यादा महत्व रखता है।

ये आकाशीय घटनाक्रम मनुष्य के सामाजिक-धार्मिक जीवन में भी प्रतिबिम्बित होते हैं। दिन भर में सूरज की बदलती स्थिति, चांद की घटती-बढ़ती कलाएं, नियमित रूप से ग्रहों का दिखाई देना और छिपना, रात-दिन, ऋतुएं और जन्म-मरण आदि सभी निश्चित रूप से एक चक्राकार घटनाक्रम के द्योतक थे जो धीरे-धीरे सामाजिक, धार्मिक ताने-बाने में गूंथ दिए गए। इसके अलावा आकाशीय चक्र व आकाश मण्डल में बारम्बार दोहराई जाने वाली घटनाएं विभिन्न कर्मकाण्डों के मुहुर्त पता करने में भी काम आती थीं।

खगोलशास्त्र की प्रमुख गतिविधि थी राशि चक्र में सूर्य, चांद और ग्रहों की गति के आधार पर कालगणना और पंचांग सम्बंधी गणनाएं करना। शायद इसीलिए भारतीय खगोलशास्त्र में आकाशीय पिण्डों की उत्पत्ति, संरचना व प्रकृति आदि को ज़्यादा महत्व नहीं दिया गया। और न ही राशि चक्र के बाहर के तारों के मानचित्रण का कोई प्रयास हुआ। दूसरे शब्दों में, भारतीय खगोलशास्त्र के उद्देश्य काफी सीमित थे, किन्तु इस सीमित ताने-बाने में भी इसने कुछ महत्वपूर्ण कदम आगे बढ़ाए थे।

वैदिक खगोलशास्त्र

भारत में खगोलशास्त्र की उत्पत्ति के प्रमाण वैदिक काल (1500 ईसा पूर्व) से ही मिलते हैं। वैदिक साहित्य में अध्ययन का एक प्रमुख विषय ज्योतिष था। पहले ज्योतिष का अर्थ खगोल से ही था किन्तु आगे चलकर इसमें फलित ज्योतिष का भी समावेश हो गया। प्राचीनतम वैदिक खगोलशास्त्रीय ग्रंथ का शीर्षक *वेदांग ज्योतिष* है। आकाशीय पिण्डों, खासकर सूर्य व चंद्र की गतियों तथा ग्रहण व संक्रान्ति के समय का सटीक ज्ञान लोगों के सामाजिक-धार्मिक अनुष्ठानों, त्यौहारों, विवाह, कृषि कार्यों आदि के शुभ-अशुभ समय का पता लगाने के हिसाब से ज़रूरी था। शायद लोगों के आध्यात्मिक लक्ष्य यानी ब्रह्माण्ड, उसके सौन्दर्य व सामंजस्य के साथ एकीकरण इसी पर टिका हुआ था।

आकाशीय प्रकाश पिण्डों में सूर्य को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता था। इसका क्रान्ति पथ बहुत मेहनत व लगन से निर्धारित किया गया था और इसे अलंघ्य माना जाता था। क्रान्ति पथ पर सूर्य की विभिन्न स्थितियों के साथ सम्बद्ध कई रीति-रिवाज थे। ज़ाहिर है, प्रकाश पिण्डों में दूसरा स्थान चन्द्रमा का था। खास तौर से काल गणना की दृष्टि से इसका बहुत महत्व था। दरअसल संस्कृत में चांद को मासकृत कहा जाने का अर्थ ही यह है कि वह मास (महीने) का निर्माता है। गौरतलब है कि अंग्रेज़ी शब्द 'मन्थ' मूनेथ से बना है। अर्थात महीने का सम्बंध चांद से है। उर्दू में भी माह का मतलब चांद ही होता है। महीने की गणना के दो तरीके थे - एक अमावस्या पर समाप्त होता था और दूसरा पूर्णिमा पर।

चांद का पथ 27 या 28 नक्षत्रों (देखें तालिका) के सापेक्ष देखा जाता था। चांद का राशि चक्र भलीभांति ज्ञात था। गौरतलब है कि चीन (नक्षत्र-हसीड) और अरब (मनाज़िल) में भी यही प्रथा प्रचलित थी। यह कहना मुश्किल है कि इन अलग-अलग सभ्यताओं में यह प्रणाली स्वतंत्र रूप से विकसित हुई या कि इसमें परस्पर लेन-देन रहा था। महीने का नाम उस नक्षत्र से निर्धारित होता था जिसमें पूर्णिमा का चांद दिखाई देता था। बारह चांद मासों को 2-2 महीनों की छह ऋतुओं में बांटा गया था। और सौर मासों के अलग नाम भी प्रचलित थे।

विभिन्न वैदिक पंचांग निम्नानुसार थे : नाक्षत्र चांद

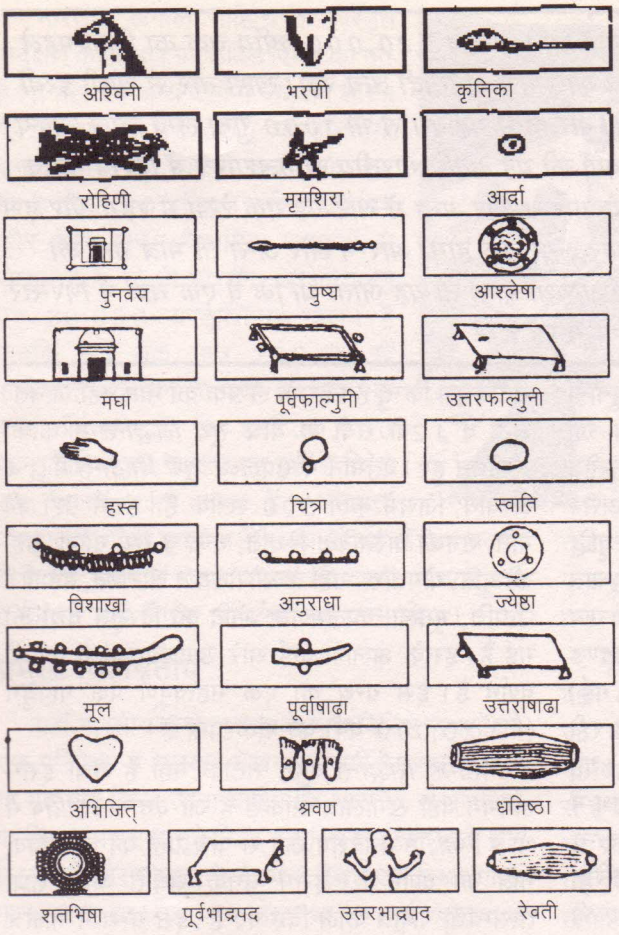

भारतीय चांद्र-नक्षत्र : यहां अभिजित सहित नक्षत्रों की संख्या 28 है। यह चित्र ज्योतिषी श्रीपति (लगभग 1000 ई.) के मुहूर्त-ग्रन्थ *रत्नमाला* के विवरण के आधार पर सर विलियम जोन्स (1746-94 ई.) ने तैयार करवाया था।

वर्ष या sidereal lunar year (27-27 दिनों के 12 या 13 महीने); संयुति चांद वर्ष या synodic lunar year (30-30 दिन के 6 महीने और 29-29 दिन के 6 महीने); सायन वर्ष 30-30 दिन के 12 महीने) और एक छद्म नाक्षत्र वर्ष (378 दिन, जिसमें सामान्य 360 दिन के दो वर्षों के बाद तीसरे वर्ष में 18 दिन जोड़े जाते थे)। ऐसा इसलिए किया जाता था ताकि 366 दिन के नाक्षत्र सौर वर्ष और सायन वर्ष (360 दिन) के बीच तालमेल बना रहे। नाक्षत्र सौर वर्ष अर्थात sidereal solar year उस अवधि को कहते हैं जो सूर्य को तारों के सापेक्ष एक बिन्दु से चलकर उसी बिन्दु पर लौटने में लगती है। यानी चांद की गति व सूर्य की गति के बीच तालमेल हेतु अधिक मास का प्रावधान था।

वैदिक साहित्य में इस बात के पर्याप्त प्रमाण है कि उस समय ग्रीष्म व शीत दोनों संक्रान्तियों की जानकारी उपलब्ध थी। दरअसल प्रत्येक वर्ष को 6-6 माह के दो अर्धांशों में विभक्त किया जाता था। ये अर्धांश ग्रीष्म व शीत संक्रान्तियों से परिभाषित होते थे। प्रत्येक माह को भी दो भागों में बांटा गया था - कृष्ण व शुक्ल पक्ष। प्रत्येक पक्ष 15 तिथियों का होता था। इस तरह का विभाजन भारतीय काल गणना का प्रमुख लक्षण था, जिन्हें मुहुर्त्त कहते थे। सबसे लम्बा दिन ग्रीष्म संक्रान्ति के समय 18 इकाइयों का था जबकि सबसे छोटा दिन शीत संक्रान्ति के समय 12 ऐसी इकाइयों का था। वर्ष, माह और दिन के ये विभाजन व्यावहारिक रूप से तो उपयोगी थे ही; साथ ही यज्ञ व अन्य रीति-रिवाजों, त्यौहारों, व्रतों आदि का नियमन करने में भी उपयोगी थे।

वार्षिक चक्र से आगे बढ़कर पांच वर्ष के एक चक्र की कल्पना एक और महत्वपूर्ण कदम था। पंचवर्षीय चांद-सौर चक्र *वेदांग ज्योतिष* (1400-1200 ईसा पूर्व; वर्तमान स्वरूप में 700-600 ईसा पूर्व) में विस्तार से वर्णित है। पांच वर्ष के एक चक्र में दो अधिक मास जोड़ने का भी प्रावधान है - पहला पांचवी संक्रान्ति के अन्त में और दूसरा दसवीं संक्रान्ति के अन्त में। इस तरह से चांद और सूरज का तालमेल बना रहता था। यहां दो संक्रान्तियों के बीच दिन की अवधि की गणना के नियम भी दिए गए हैं।

सिद्धान्त ज्योतिष

वेदांग ज्योतिष के काल से *आर्यभटीय* की रचना के बीच भारतीय ज्योतिष पर बाहरी प्रभाव स्पष्ट है। यह प्रभाव यूनान व यूनानी रोम क्षेत्रों से आया था। *आर्यभटीय* की रचना 5वीं ईस्वी सदी में हुई थी तथा यह प्रथम गणित

दूसरी अवधारणा चक्र सम्बंधी थी। महायुग कहे जाने वाले 43,20,000 वर्षीय चक्र का ज़िक्र पहले किया जा चुका है। यह भारतीय खगोलशास्त्र का सबसे बुनियादी तत्व रहा। खास तौर से चौथी इस्वीं सदी के बाद से इस अवधारणा ने ज़ोर पकड़ा। वास्तव में महायुग से भी 1000 गुना लम्बे काल (कल्प) की संकल्पना की गई थी। 43,20,000 वर्षों की यह अवधि भारतीय खगोलशास्त्र में विशेष महत्व रखती है। ऐसा माना गया था कि इस अवधि के प्रारम्भ और अन्त में सारे ग्रह एक रेखा में रहेंगे और इस दौरान वे निश्चित संख्या में पूरे-पूरे चक्कर लगा चुके होंगे। आरम्भ और अन्त तो मात्र ग्रहों की स्थितियां पता करने के लिए सुविधाजनक थे, अन्यथा माना तो यह जाता था कि वे एक चक्र में निरन्तर घूम रहे हैं।

आधारित ज्योतिष ग्रन्थ माना जा सकता है। यूनानी खगोलशास्त्री पर बेबीलोन का काफी असर देखा जा सकता है। एलेक्ज़ेण्डर के धावे के बाद भारतीय खगोलशास्त्र पर हेलेनिस्टिक खगोलशास्त्र का भी असर हुआ। इसके अलावा स्थानीय प्रयासों में भी काफी वृद्धि देखी जा सकती है। ईसा के दो-तीन सदी पूर्व व पश्चात् भारत में काफी रचनात्मक कार्य हुए। यह वह दौर था जब खास तौर से ग्रहों के सम्बंध में नए खगोलीय मापदण्ड विकसित हुए तथा निर्देशांकों की प्रणाली अपनाई गई। नक्षत्र प्रणाली का स्थान धीरे-धीरे 12 राशियां ले रही थीं। इसी दौरान वर्ष की अवधि की गणनाएं से हुईं। यह अवधि एक नए किस्म की खगोलीय रचनाओं को गर्भ में समाए थी। सूक्ष्मता ग्रहों की गति की व्याख्या हेतु उत्केन्द्र वृत्तों तथा अधिक चक्रों के ज्यामितिक मॉडल विकसित हुए। इसी दौरान सूर्य व चन्द्र ग्रहण सम्बंधी गणनाएं भी की गईं।

ये रचनाएं सिद्धान्त ज्योतिष से सम्बंधित थीं। इसके अलावा इन सारे प्रयासों के पीछे एक गणितीय दृष्टिकोण भी उपस्थित था। इसके पश्चात् के कई भारतीय खगोलविद दक्ष गणितज्ञ भी हुए।

इस अवधि के पांच सिद्धान्त ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। ये हैं- *सौर, पैतामह, वाशिष्ट, पौलिष* और *रोमक*। बाद में 6ठी इस्वीं सदी में वराहमिहिर ने इनका सारांश भी प्रस्तुत किया था। वराहमिहिर के अनुसार इनमें सौर या *सूर्य सिद्धान्त* सर्वाधिक सटीक था किन्तु हम इसके लेखक का नाम नहीं जानते। 6ठी व 12वीं सदी के बीच *सूर्य सिद्धान्त* में काफी संशोधन हुए। वर्तमान में उपलब्ध *सूर्य सिद्धान्त* में 14 अध्याय, जिसमें कुल 500 श्लोक हैं। इसमें ग्रहों की गति, उनकी वास्तविक स्थिति, चन्द्र व सूर्य ग्रहण, ग्रहों की युति, योगतारा, ग्रहों के सौरोदय व सौरास्त, ब्रह्माण्ड उत्पत्ति, भूगोल, कालगणना आदि की विस्तृत चर्चा की गई है। इसके अलावा कई सारे खगोलीय यंत्रों का भी वर्णन है। इस ग्रन्थ का एक महत्वपूर्ण पक्ष महायुग (43,20,000 वर्ष) की संकल्पना है।

पैतामह सिद्धान्त बहुत सटीक नहीं है तथा इसमें लगभग वही खगोलीय आंकड़े हैं जो *वेदांग ज्योतिष* में भी हैं। *वाशिष्ठ* में विशेष रूप से पांच ग्रहों की वास्तविक गति का वर्णन है। इसमें उनके संयुति काल तथा तत्सम्बंधी नाक्षत्र काल दिए गए हैं। इस ग्रन्थ में नाक्षत्र वर्ष की अवधि 365 दिन दी गई है। *पौलिष* में केन्द्र की विसंगति व समीकरणों का ज्ञान प्रकट होता है तथा इसमें हमें गोलीय त्रिकोणमिति की शुरुआत नजर आने लगती है।

उत्तर मध्ययुग का एक भारतीय एस्ट्रोलेब

मूलतः संस्कृत में रचित खगोलीय रचनाओं को मोटे तौर पर तीन समूहों में बांटा जा सकता है : खगोलीय गणनाओं व निष्कर्षों वाले सिद्धान्त ग्रन्थ, गणनाओं के नियमों व विधियों वाले करण ग्रन्थ तथा खगोलीय तलिकाओं वाले कोष्ठक ग्रन्थ। इसके अलावा कुछ ग्रन्थों में मूलतः खगोल यंत्रों के विवरण हैं।

भारतीय खगोल साहित्य के विस्तृत सर्वेक्षण के आधार पर डेविड पिन्ग्री का मत है कि भारत व अन्य देशों में ज्योतिष शास्त्र पर लगभग 1,00,000 पाण्डुलिपियां उपलब्ध हैं। यदि यह भी मान लिया जाए कि इनमें से 80 प्रतिशत फलित ज्योतिष और अन्य छद्म वैज्ञानिक पहलुओं से सम्बंधित हैं, तो भी भारतीय खगोलशास्त्र पर 20,000 पाण्डुलिपियां मौजूद हैं जबकि अब तक मात्र 200 का ही भलीभांति अध्ययन हो पाया है। यहां एक बात गौरतलब है कि इन 20,000 पाण्डुलिपियों का मतलब यह नहीं है कि ये सब अलग-अलग ग्रन्थ हैं। अलबत्ता पाण्डुलिपियों की इतनी बड़ी संख्या से यह तो पता चलता ही है कि भारत में खगोलशास्त्र की लम्बी परम्परा रही है जिसने कई विशिष्ट गणितज्ञों को जन्म दिया।

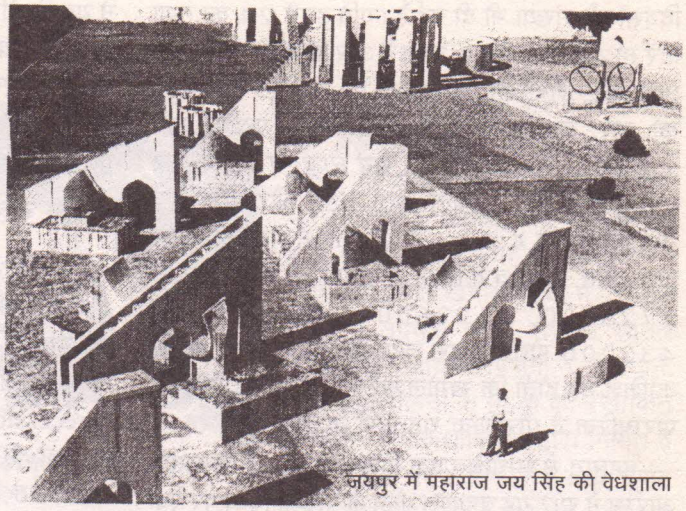

जयपुर में महाराज जय सिंह की वेधशाला

प्रमुख विशेषताएं

यहां भारतीय खगोलशास्त्र के कुछ विशिष्ट लक्षणों को एक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखना लाज़मी है। सबसे पहले तो यह गौर किया जाना चाहिए कि भारतीय खगोलविदों के दिमाग पर एक भूकेन्द्रित व भूस्थिर धारणा हावी थी। धरती को सौर मण्डल के केन्द्र में स्थित एक स्थिर गोला माना जाता था। यह माना जाता था कि सूर्य, चन्द्रमा व अन्य ग्रहों की पश्चिम से पूर्व की ओर अपनी-अपनी गति है तथा नक्षत्रों या तारामण्डलों की गति पूर्व से पश्चिम की ओर है। ऐसा माना जाता था कि इसी के परिणामस्वरूप ग्रह तारों से पिछड़ जाते हैं। बहरहाल, भूकेन्द्रित धारणा को बरकरार रखते हुए आर्यभट् प्रथम ने भूस्थिरता की धारणा में संशोधन किया था। आर्यभट प्रथम ने पृथ्वी के अपने अक्ष पर घूमने की बात कही और उसकी घूर्णन गति की काफी सटीक गणना भी की - उनके द्वारा निकाला गया मान वर्तमान में मान्य मान के काफी करीब था। उन्होंने स्थिर नक्षत्रों/तारामण्डलों की पश्च गति की भी व्याख्या की थी। बदकिस्मती से वे धरती के घूर्णन की धारणा के अकेले हिमायती थे और उनके बाद आने वाले खगोलशास्त्रियों ने उनका डटकर विरोध किया। खैर, ग्रहों की गतियों, उनकी बहुत धीमी, धीमी, तेज़ और बहुत तेज़ गतियों तथा आभासी पश्च गतियों व अनुप्रस्थ गतियों की व्याख्या भूकेन्द्रित मॉडल के तहत् कर दी गई थी।

दूसरी अवधारणा चक्र सम्बंधी थी। महायुग कहे जाने वाले 43,20,000 वर्षीय चक्र का ज़िक्र पहले किया जा चुका है। यह भारतीय खगोलशास्त्र का सबसे बुनियादी तत्व रहा। खास तौर से चौथी इस्वीं सदी के बाद से इस अवधारणा ने ज़ोर पकड़ा। वास्तव में महायुग से भी 1000 गुना लम्बे काल (कल्प) की संकल्पना की गई थी। 43,20,000 वर्षों की यह अवधि भारतीय खगोलशास्त्र में विशेष महत्व रखती है। ऐसा माना गया था कि इस अवधि के प्रारम्भ और अन्त में सारे ग्रह एक रेखा में रहेंगे और इस दौरान वे निश्चित संख्या में पूरे-पूरे चक्कर लगा चुके होंगे। आरम्भ और अन्त तो मात्र ग्रहों की स्थितियां पता करने के लिए सुविधाजनक थे, अन्यथा माना तो यह जाता था कि वे एक चक्र में निरन्तर घूम रहे हैं। कहना न होगा कि ग्रहों की औसत गति की गणना के लिए इतनी विशाल अवधि का उपयोग भारतीय खगोलशास्त्र की अनोखी बात है। यह मुमकिन है कि भारतीय खगोलविदों ने इतनी बड़ी कालावधि की कल्पना भिन्न संख्याओं से बचने के लिए की होगी।

इस विशाल चक्र की कल्पना में विविधता भी थी। *सूर्य सिद्धान्त* का जो रूप वराहमिहिर ने पंचसिद्धान्त में प्रस्तुत किया है उसमें यह अवधि 1,80,000 वर्ष की है। इसी के अनुरूप अधिक मासों की संख्या तथा छूटे हुए चांद

दिवसों की संख्या भी दी गई है। यदि इनमें 24 का गुणा करें तो 43,20,000 आता है और सम्बंधित खगोलीय तत्वों की गणना की जा सकती है। आर्यभट ने महायुग को चार बराबर भागों में बांटा था - प्रत्येक भाग 10,80,000 वर्ष का था। *सूर्य सिद्धान्त* में इन्हें चार युगों में बांटा गया है : कृत, त्रेता, द्वापर और कलि। इन युगों की अवधि 4:3:2:1 के अनुपात में घटती है। अत: कृत, त्रेता, द्वापर व कलि में सौर वर्षों की संख्या क्रमश: 1728000, 11296000, 864000 और 432000 होती है। इस तरह के नामकरण के ज़रिए कोशिश यह होती कि खगोलशास्त्रीय ग्रन्थों का तालमेल पारम्परिक व पौराणिक घटनाओं के साथ बना रहे।

महायुग से सम्बंधित एक विशेष बात यह है कि इसके आरम्भ में सारे ग्रह ब्रह्माण्ड गोल के प्रारम्भ बिन्दु पर एक साथ थे। यानी उनका भोगांश शून्य होगा। अत: यदि हमें किसी युग के आरम्भ के कुछ दिनों बाद किसी ग्रह की स्थिति पता करनी हो तो आसानी से की जा सकती है।

इस प्रश्न पर विचार करना लाज़मी है कि क्या आकाशीय पिण्डों व उनकी गतियों के अवलोकन व लेखन के लिए भारतीय खगोलशास्त्री यंत्रों का उपयोग करते थे? इस संदर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि कई प्रमुख खगोल ग्रन्थों में ऐसे यंत्र बनाने व उपयोग करने सम्बंधी स्वतंत्र अध्याय हैं। आर्यभट प्रथम ने सावधानी पूर्वक अवलोकनों के महत्व को रेखांकित किया है।

भारतीय खगोलविदों ने एक नया शब्द अहर्गण भी प्रयुक्त किया। इसका अर्थ होता है किसी भी समयावधि में बीते दिन। इसके अलावा चांद-सौर तालमेल के लिए अधिक मासों का भी हिसाब रेखा जाता था।

भारतीय खगोलशास्त्रियों ने समय पता करने और सूर्य, चन्द्रमा तथा ग्रहों के भोगांश पता करने के तरीके भी विकसित किए थे। समय-समय पर ज़रूरत के मुताबिक उन्होंने चन्द्रमा के केन्द्र की विसंगति समीकरण तथा भ्रमण पथ के तिरछे पन के कारण समय में होने वाले अन्तर के समीकरण भी विकसित किए।

ब्राह्माण्ड के गोले की संकल्पना पूरे विस्तार से की गई थी - उर्ध्व बिन्दु, अधोबिन्दु, क्षितिज, मूल मध्यान्ह रेखा, होरा वृत्त, मध्यान्ह रेखा, क्रान्ति वृत, ब्रह्माण्डीय विषुवत तथा इसके सापेक्ष क्रान्ति वृत्त का झुकाव, ब्रह्माण्डीय ध्रुवों आदि का वर्णन इसमें शामिल है। गणनाओं व मॉडलों के ज़रिए भारतीय खगोलशास्त्रियों ने यह निर्धारित किया था कि क्रान्ति वृत्त का झुकाव 24 डिग्री है तथा इसी के आधार पर वे खगोलीय गणनाएं करते थे। एक और बुनियादी मान्यता यह थी कि नक्षत्रों का प्रथम बिन्दु अश्विनी (रेवती तारे के निकट) है। इसी के सापेक्ष भोगांशों की गणना की जाती थी।

अयन चलन

प्राचीन काल में क्रान्ति वृत्त पर अयन बिन्दुओं की पश्च गति को लेकर अलग-अलग मत थे। अयन बिन्दुओं की गति के कारण तारों की स्थिति बदलती रहती है। आज हम जानते हैं कि ऐसा धरती के अक्ष की पुरस्सरण (precession) गति की वजह से होता है - यानी धरती के अक्ष का झुकाव बदलता रहता है। इसका पुरस्सरण काल 25,800 वर्ष आंका गया है।

भारत में काफी समय तक अयन दोलन की मान्यता प्रचलित थी अर्थात यह माना जाता था कि अयन एक स्थिर बिन्दु अश्विनी के दोनों ओर (पूर्व व पश्चिम) में बराबर-बराबर दोलन करते रहते हैं। *सूर्य सिद्धान्त* में कहा गया है कि 43,20,000 वर्षों के एक चक्र में ऐसे 600 दोलन होते हैं। यानी एक दोलन की अवधि 7,200 वर्ष मानी गई थी। इस तरह दोलन की वार्षिक गति 54 सेकण्ड आती है। आर्यभट प्रथम, ब्रह्मगुप्त और लल्ला जैसे उत्कृष्ट खगोलशास्त्रियों ने अयन पुरस्सरण की बात सोची हो, ऐसा नहीं लगता। आर्यभटीय के टीकाकार भास्कर प्रथम तो ऐसे विचार के कतई खिलाफ थे। वराहमिहिर हालांकि इस परिघटना के अस्तित्व को जानते थे मगर ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि उन्हें इसकी गति की कोई जानकारी थी।

7वीं ईस्वीं सदी के उत्तरार्ध में देवाचार्य वे पहले खगोलशास्त्री थे जिन्होंने पुरस्सरण की गणना की विधि सोची। बाद के खगोलविद आर्यभट द्वितीय और वटेश्वर ने पुरस्सरण गणना के अपने तरीके खोजे मगर ये तरीके भी अयन बिन्दुओं की गति के हिसाब से ही थे। 10वीं

दिल्ली में महाराज जय सिंह की वेधशाला में मिश्र यंत्र का दक्षिण से देखा नज़ारा

ईस्वीं सदी में मुन्जाल ने पुरस्सरण गति को पूर्ण चक्र के रूप में पहचाना और बताया कि 1000 महायुगों में अयन 199699 बार चक्कर लगाएंगे। इससे वर्षिक पुरस्सरण दर 59.9 सेकण्ड निकलती है। एक अन्य खगोलशास्त्री पृथुदकस्वामी ने यह दर 56.82 सेकण्ड निकाली थी।

ग्रहण

लगभग 2000 वर्षों तक राहू की पौराणिक धारणा पुरोहित खगोलविदों पर हावी रही। ये खगोलशास्त्री फलित ज्योतिषी भी थे। माना जाता था कि राहु राक्षस का सिर है जो सूर्य और चन्द्रमा को निगल लेता है और इस प्रकार से ग्रहण लगते हैं। आर्यभट प्रथम ने 5वीं ईस्वीं सदी में स्पष्ट किया कि चन्द्रमा द्वारा सूर्य को ढंक लिए जाने पर सूर्यग्रहण तथा चन्द्रमा के पृथ्वी की छाया में आ जाने पर चन्द्रग्रहण होता है। वराहमिहिर ने स्पष्ट तौर पर व्याख्या की कि चन्द्रग्रहण तब होता है जब चांद पृथ्वी की छाया में आ जाता है किन्तु उन्होंने राहु शब्द का उपयोग जारी रखते हुए कहा कि आरोह पात (कटान बिन्दु) राहु की पूंछ है। आगे चलकर पृथ्वी व चन्द्रमा के परिक्रमा पथों के कटान बिन्दुओं को पात कहा जाने लगा। ऐसा लगता है कि कुछ खगोलशास्त्री आरोह पात व अवरोह पात के लिए राहु व केतु शब्दों का उपयोग तकनीकी रूप में करने लगे थे। विस्थापनाभास के मामले में भारतीय खगोलशास्त्रियों ने इस त्रुटि के सुधार हेतु विधियां विकसित कर ली थीं।

यंत्र

इस प्रश्न पर विचार करना लाज़मी है कि 'क्या आकाशीय पिण्डों व उनकी गतियों के अवलोकन व लेखन के लिए भारतीय खगोलशास्त्री यंत्रों का उपयोग करते थे? इस संदर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि कई प्रमुख खगोल ग्रन्थों में ऐसे यंत्र बनाने व उपयोग करने सम्बंधी स्वतंत्र अध्याय हैं। आर्यभट प्रथम ने सावधानी पूर्वक अवलोकनों के महत्व को रेखांकित किया है। खगोलशास्त्रियों द्वारा निर्मित व उपयोग किए गए यंत्रों में छाया यंत्रों, घूर्णन यंत्र, वलयाभ यंत्र, जलयंत्र, वृत्त व अर्द्धवृत्त यंत्र, अंकित नलिकाएं, आयताकार पट्टिकाएं वगैरह शामिल हैं। कुछ ग्रन्थों में स्पष्ट निर्देश दिए गए हैं कि समय, दिशा, अक्षांश व उर्ध्व बिन्दु, होरा कोण, ग्रहों की युति आदि पता करने हेतु इन यंत्रों का उपयोग कैसे किया जाए। दुर्भाग्यवश अब तक इन यंत्रों के मॉडल बनाकर जांच का काम नहीं किया गया है।

मध्ययुग

मध्यकालीन भारत में एस्ट्रोलेब का उपयोग एक हरफनमौला यंत्र के रूप में शुरू हो चुका था। आज भी भारत के संग्रहालयों में जो एस्ट्रोलेब दिखाई पड़ते हैं वे 17-19वीं सदी में बनाए गए थे। अधिकांश पर फारसी नक्काशी है, हालांकि कुछ यंत्रों पर नागरी अक्षर भी उकेरे गए हैं। लाहौर में तो एस्ट्रोलेब बनाने वालों का एक खानदान ही था। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि एस्ट्रोलेब भारतीय खगोलशास्त्र पर अरब प्रभाव के द्योतक हैं।

अपनी भौगोलिक स्थिति, प्राचीन व मध्ययुगीन व्यापारिक मार्गों से अपने जुड़ाव तथा सांस्कृतिक सम्पर्कों की बदौलत भारत ने वैज्ञानिक विचारों के प्रसार व अंगीकरण में एक भूमिका निभाई है। इसमें टोलेमी कालीन मिस्र, रोमन साम्राज्य व पश्चिम एशियाई खलिफाओं के साथ व्यापार सम्बंधों का खासा असर रहा। खलीफा अलमंसूर के ज़माने में एक भारतीय खगोलशास्त्री ने बगदाद जाकर वहां भारत में विकसित गणना विधियों का प्रचार किया था। इब्न-अल् अदमी की

खगोल तालिका *नज़्म अल् इग्द* इसका प्रमाण है। ब्रह्मगुप्त द्वारा रचित भारतीय ग्रन्थों *ब्रह्मफुट सिद्धान्त* तथा *खण्डखाद्यक* का अरबी में अनुवाद सिंद हिन्द और ज़िज अल् अरकन्द के नाम से मुहम्मद इब्न इब्राहिम अल् फज़री और याकूब इब्न तारीक ने किया था। यह 8वीं ईस्वीं सदी की बात है। अरब खगोल शास्त्री आर्यभट प्रथम को अरजबहरा के नाम से जानते थे। मध्य एशियाई तथा अन्य इस्लामी खगोलशास्त्री भारतीय खगोलीय गणनाओं से परिचित थे और इनका उपयोग भी करते थे। इनमें अल् ख्वारिज़्मी, अल् हसन बिन मिस्बा, अल् नाइरिज़ी, इब्न अस् सफर, इब्न युनूस और अल् बट्टानी प्रमुख हैं।

मध्यकाल में संस्कृत में काफी खगोलीय साहित्य रचा गया किन्तु इसमें से अधिकांश भाष्य व टीकाओं के रूप में द्वितीयक साहित्य था। इस दौरान *सूर्य सिद्धान्त* के अलावा आर्यभट, ब्रह्मगुप्त, लल्ला, भास्कर प्रथम व भास्कर द्वितीय की रचनाओं के भाष्य लिखे गए। कुछ टीकाओं में गणनाओं की विधियों व तालिकाओं के उन्नत रूप भी शामिल किए गए। पारम्परिक भारतीय खगोलशास्त्रियों का सम्पर्क मुगल दरबार के खगोलशास्त्रियों से होने लगा और इसने खगोलीय गतिविधियों में सर्वथा नए आयाम जोड़े। इसी दौरान कई सारे अरबी व फारसी खगोलीय व गणितीय ग्रन्थों का अनुवाद संस्कृत में हुआ।

इस संदर्भ में महाराजा सवाई जयसिंह द्वितीय (1688-1743) का उल्लेख लाज़मी है। उन्होंने उत्तर भारत में पांच वेधशालाओं का निर्माण करवाया। इन वेधशालाओं में खगोल अध्ययन के कई यंत्र हैं। वे हिन्दू, अरबी व यूरोपीय खगोलशास्त्र से परिचित थे। उन्हें यूरोप में दूरबीन के उपयोग की भी जानकारी थी और उन्होंने अपने शहर में छोटी-छोटी दूरबीनें बनवाने का भरसक प्रयत्न किया।

नई धाराएं

सोलहवीं से अट्ठारवीं सदी के दौरान भारत के खगोलीय प्रयासों पर एक और प्रभाव नज़र आता है। यह प्रभाव यूरोप से आए जेसुइट्स के माध्यम से हुआ। ये जेसुइट्स भूगोल व मानचित्रण में दक्ष थे और व्यावहारिक खगोलशास्त्र के ज्ञाता थे। इनमें से कई जेसुइट्स ने सवाई जयसिंह की वेधशाला में काम भी किया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी खगोलीय क्रियाकलापों को बढ़ावा दे रही थी तथा उसने कई आधुनिक वेधशालाओं के निर्माण में मदद दी। इनमें से मद्रास वेधशाला विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह 1792 में तैयार हुई और इसे कोडाइकनाल वेधशाला का पूर्ववर्त्ती माना जा सकता है। इस सारे प्रयासों से पता चलता है कि एक लम्बी परम्परा का ही परिणाम था कि पश्चिमी खगोलशास्त्र को पराया नहीं माना गया और जल्दी ही इसके भारतीय अध्येता भी उभर कर आए। इसी का नतीजा था कि एम.एन. साहा और वैनुबप्पा जैसे वैज्ञानिकों ने आधुनिक खगोलशास्त्र में भी उल्लेखनीय योगदान दिया। आज भी भारत में अपनी प्राचीन खगोल परम्परा को जीवित रखने तथा साथ ही आधुनिक अन्वेषणों को अपनाने के प्रयास चल रहे हैं। कौन जाने इनमें से कौन सी धारा व्यक्ति और ब्रह्माण्ड के सम्बंधों की बेहतर समझ प्रस्तुत करती है। ***(स्रोत फीचर्स)***

बी.वी. सुब्बारायप्पा सेंटर फॉर हिस्ट्री एण्ड फिलॉस्फी ऑफ साइंस, बैंगलोर में कार्यरत हैं। अनुवादक हैं एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से जुड़े स्वतंत्र विज्ञान लेखक डॉ. सुशील जोशी।

स्थितियों को हम अपने अनुकूल बना सकते हैं –
प्रार्थना या विनम्रता से नहीं, बल्कि प्राकृतिक नियमों की जानकारी हासिल करके।

बरट्रेन्ड रसेल